Shodhshauryam, International Scientific Refereed Research Journal
© 2019 SHISRRJ | Volume 2 | Issue 5 | ISSN : 2581- 6306

नरकण्ठीरवशास्त्रिदृशा काव्य-दोष विवेक

अतुल कुमार मिश्र,
शोधच्छात्र, संस्कृत विभाग,
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, भारत।

शोध-सारांश – इस शोध पत्र में काव्य दोष के स्वरूप के साथ काव्य में उसकी क्या स्थिति है? इन सभी प्रकार के समस्याओं पर नरकण्ठीरव शास्त्री का मन्तव्य प्रस्तुत किया गया है। मम्मट द्वारा काव्यलक्षण के विशेषण रूप में प्रयुक्त **'अदोषौ'** को कविराज आदि ने आलोचित किया गया है। इसका निराकरण करते हुए नरकण्ठीरवशास्त्री ने समाधान प्रस्तुत किया है कि अदोष पद का अर्थ दोषसामान्यशून्यत्व है। जिसका अभिप्राय यह है कि जो उद्देश्यप्रतीति में प्रतिबन्धक हो वही दोष पद के द्वारा ग्रहण किया जाता है। इस प्रकार से मम्मट में प्रदर्शित दोष का निराकरण किया है पुन: काव्य दोष के समस्त विकल्पों का प्रदर्शन किया है।

मुख्य शब्द– नरकण्ठीरव शास्त्री, काव्य-दोष, मम्मट, भारतीय, काव्यशास्त्र, अपकर्षक, काव्य, काव्यलक्षण।

भारतीय काव्यशास्त्र के उद्भव के मूल स्पष्ट रूप से वेदों में प्राप्त होते है, साथ-साथ ही तद्लक्षण घटकीभूत तत्त्वों का भी पर्याप्त वर्णन प्राप्त होता है। यदि समस्त विद्या के आकर वेद-वाङ्मय (ऋक्संहिता) का परिशीलन किया जाए तब भी काव्य-दोषों का पारिभाषिक रूप में अथवा अन्य किसी प्रकार से साक्षात् उल्लेख नहीं प्राप्त होता है। काव्यशास्त्र का उदय और विकास जिन परिस्थितियों में हुआ उनका भान वैदिक-सूक्तों में होता है। अन्य शास्त्रों के भाँति ही काव्यशास्त्र मानव-चिन्तन का अविभाज्य अङ्ग के रूप में उपस्थित है। यह इस के सतत् विकास परम्परा से ज्ञात होता है। इस प्रकार काव्य दोष सम्बन्धी अवधारणाओं के सन्दर्भ में भी सतत् मानवीय-चिन्तन का ही योगदान रहा है।

आचार्य मम्मट के काव्यलक्षण के **'अदौषौ'** इस प्रथम विशेषण का अभिप्राय यह कि काव्यत्व के व्याघातक जितने भी प्रकार के दोष है उन सभी दोषों से रहित अन्य काव्यलक्षण के उक्त विशेषण से समन्वित होते हुए ही काव्यत्वेन अभिहित है। नरकण्ठीरवशास्त्री के विश्लेषण से ज्ञात होता है कि सामान्यतया वह दोष

प्रतिकूलवर्ण, श्रुतिकटु, कष्ट, च्युतसंस्कृति, क्लिष्ट तथा अभवन्मतयोग ये छः प्रकार के परिगणित किए गये हैं[1]। एतद् अतिरिक्त सभी काव्य के अपकर्षक है। अविमृष्ट-विधेयांश का क्वचित् काव्यत्व के अभिघातक न होने के कारण वह दोष में परिगणित नहीं होता है। जैसेकि "न्यकारोहयमेव" इस काव्य में उक्तदोष के विद्यमान होने पर भी काव्यत्व में कोई क्षति नहीं है। इस प्रकार से दोषाभाव होने के कारण काव्यत्व में अव्याप्ति नहीं है।

यदि काव्य के अपकर्षक अविमृष्ट-विधेयांश प्रकार के दोषों का अभाव काव्यलक्षण में सन्निवेश नहीं कर सकते तो आत्माश्रय दोष की आपत्ति होने लगेगी और काव्य के अपकर्षक जितने भी दोष है, उनका प्रत्येक काव्यत्व के साथ अभावग्रहण करना होगा। परन्तु ऐसा नहीं कर सकते क्योंकि प्रत्येक का काव्य लक्षण में ग्रहण करने पर महान गौरव दोष तथा उसका अनुगम भी नहीं हो सकता है इस प्रकार का कथन ठीक नहीं है।

उक्त छः दोषों में से प्रथम जो तीन दोष है उनका रस-प्रतीति के प्रतिसाक्षात् प्रतिबन्धक के होने के कारण दोष है तथा अन्तिम तीन दोषों का शाब्दबोध के प्रतिबन्धक होते हुए दोष है। रस-प्रतीति तथा शाब्द-बोध प्रतिबन्धक इन दोनों अवस्थाओं में दोषों का अननुगम कर के दोनों प्रकार के दोषों का अवच्छेदकता कोटि में सन्निवेश करने पर उक्तदोष का ग्रहण नहीं होता है। काव्य में दोषहीन की स्थिति अन्वय-व्यतिरेक के द्वारा दोषों के प्रतिबन्धक ज्ञान से उसी रूप में (दोषहीन) अनुगम सम्भव नहीं है। प्रतिबन्धक ज्ञानविषय के रूप में ग्रहण करने के उपरान्त समूहालम्बन दोष ज्ञान का ग्रहण करके उदासीन पदार्थ घट-पटादि में भी लक्षण का समन्वय होने लगेगा। दोनों प्रकार के दोषों का प्रतिबन्धकतावच्छेदकविषयतानिरुपकतावच्छेदकरूपत्व में ग्रहण के अनन्तर भी घट-पटादि उदासीन पदार्थविषयक समूहालम्बनात्मक ज्ञान के द्वारा रसप्रतीति अथवा शाब्दबोधविषयकप्रतिबन्धक ग्रहण करने पर भी अतिव्याप्ति का वारण सम्भव नहीं है। क्योंकि जो रस प्रतीति है, वह सर्वथा अखण्डरूप में होने के कारण उसमें किसी भिन्न विषय घटपटादि का ग्रहण सम्भव नहीं है। अतः रसत्वव्याप्यधर्मावच्छिन्नविषयकत्वावच्छिन्नप्रतिबध्यत्व-रूप अथवा शाब्दबुद्धित्वावच्छिन्नप्रतिबन्धकरूप इन दोनों में से किसी एक का प्रतिबध्यतानिरुपितप्रतिबन्धकता कहने पर उक्त दोष का निवारण हो सकता है[2]।

यदि कोई ऐसा कहे कि च्युतसंस्कृत्यादि दोषों का शाब्दबोध के प्रतिप्रतिबन्धकत्व में कोई दृढतर प्रमाण नहीं है तो यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि च्युतसंस्कृत्यादि दोषों का शाब्दबोधविषयक सामग्री में ही विघटन होने के कारण उन का शाब्दबोध के प्रतिबन्धक होने में अनुभव ही प्रमाण है। इसके अतिरिक्त अन्वय तथा व्यतिरेक भी इसमें प्रमाण है। इनदोषों में च्युतसंस्कृति के द्वारा साधुत्व का ज्ञान क्लिष्टत्व दोष के द्वारा आसत्ति का ज्ञान एवं अभवन्मतयोग इस दोष के द्वारा आकांक्षा तथा योग्यता इन दोनों ज्ञानों का विघटन होता है।

इस प्रकार से यदि विचार किया जाय तो प्रतिकूलवर्णादि दोषों का काव्य के लिए अपकर्षता नहीं है और इस प्रकार से वे काव्य में दोषों के आधायक भी नहीं है और भी इस प्रकार के दोष से संलग्न होने के कारण काव्यविशेष में अव्याप्ति उसी प्रकार से अवस्थित है। इस प्रकार से प्रतिकूलवर्णादि दोषों के रहने पर भी रस के प्रतिबन्धक जितने भी दोष है, उन सब का त्याग करके तथा शाब्दबोध के प्रतिबन्धक जो दोष है, उनके अभाव के सन्निवेश से ही उक्तदोष का अभाव ग्रहण होगा।

शाब्दबोध में घटक जो सामग्री के प्रतिबन्धक न होने पर उक्तदोषों का शाब्दबोध के प्रतिप्रतिबन्धकता नहीं होती है। क्योंकि शाब्दबोधविषयक बुद्धि के प्रति आकांक्षा-योग्यता-सन्निधि ज्ञान की ही कारणता स्वीकार्य है। यदि कोई आकांक्षा आदि ज्ञान के अतिरिक्त च्युतसंस्कृति इत्यादि के कारण मानता हो तो इनके कारण में कोई प्रमाण प्राप्त नहीं होता है। क्योंकि नियम भी है कारणीभूत अभाव का प्रतियोगि ही प्रतिबन्धक पदार्थ होता है[3]। प्रयोजकीभूताभाव का प्रतियोगी प्रतिबन्धक नहीं होता है, क्योंकि उसके ग्रहण में अतिव्याप्ति होती है। तान्त्रिकों के द्वारा अभ्युपगत होने के कारण भी इसका ग्रहण सम्भव नहीं है। इसलिए प्राय: सभी ग्रन्थकार उपाधि को हेत्वाभास से अतिरिक्त भाव स्वीकार करते है और यहाँ प्राप्त विश्लेषण के द्वारा भी यह सम्भव नहीं है। इसलिए लक्षण में

'शाब्दबुद्धित्वावच्छिन्नजन्यतानिरुपितजनकतावच्छेदकरूपावच्छिन्नप्रतिबध्यतानिरुपित-
प्रतिबन्धकतावच्छेदकधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताभाव के सन्निवेश पर उक्त लक्षण में कोई दोष नहीं रहेगा और नहीं इस प्रकार से शाब्दबोध की कारणता में साधुत्व ज्ञान की कारणता नहीं है, क्योकि इसमें प्रमाण का अभाव है।

असाधु स्वरूप वाले च्युतसंस्कृति आदि दोष के ज्ञान होने पर शाब्दबोध का अनुदय तथा असाधु ज्ञान के अभाव की कारणता के स्वीकार की आवश्यकता शाब्दबोध के प्रतिबन्धक के रूप में निर्वाह होते हुए भी शाब्दबोध के विघटक सामग्री के रूप में निर्वाहित नहीं है। जैसे कि काव्यप्रदीपकार ने कहा है कि **'कस्यचिद्वाक्यार्थबोधाभावात् यथा च्युतसंस्कृत्यादे:**[4] **।'** कभी-कभी वाक्यार्थबोध के अभाव से भी काव्यत्व का ज्ञान नहीं होता है, जैसे कि च्युतसंस्कृति आदि दोष के अवस्था में। 'प्रभाकरमिश्र' भी ऐसी अवस्था 'नाधीत' आदि स्थान पर असाधुत्व ज्ञान को ही शाब्दबोध के प्रतिप्रतिबन्धक स्वीकार करते है। इस प्रकार से च्युतसंस्कृति दोष का संग्रह सम्भव नहीं है। च्युतसंस्कृति के संग्रह में बाधक का अभाव है। गुण तथा अलङ्कार से युक्त काव्यविशेष को च्युतसंस्कृति दोष से दूषित होने पर वहाँ अतिव्याप्ति नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि वह भी लक्ष्यता के अन्तर्गत ही स्वीकार किया जाता है। किन्तु उस काव्य में वह दोष अपकर्षता मात्र का ही आधायक है। काव्य के व्याघातक दोष की स्थिति बहिर्भाव रूप में स्वीकार है। इसीलिए 'रसगंगाधर' के 'मर्मप्रकाश' टीका में 'नागोजीभट्ट' के द्वारा दोषपद की व्याख्या करते समय स्फ़ुट पददोष की साहित्य की बात करते हुए कुछ इस प्रकार से कहते है। **'स्फुटत्वं च शाब्दबोधप्रतिबन्धकत्वम्**[5]**'** शाब्दबोध के प्रतिबन्धक के रूप में व्याख्यायित किया है। जिसके द्वारा सर्वथा निराकाङ्क्षत्व का ग्रहण नहीं किया गया है। फिर भी उक्त कथन के अवलोकन से यही ज्ञात होता है, कि दोष पद के द्वारा काव्य का अपकर्ष ही उनको अभीष्ट है ऐसा 'नरकण्ठीरवशास्त्री' का मत है। इस प्रकार से स्वयं ही अदोष पद के द्वारा दोष सामान्य शून्यत्व के निवेश की सम्भावना करके अन्यथा सर्वथा दोषाभाव काव्य कि ऐकान्तिक अथवा असम्भव होने के कारण काव्य का प्रविरल विषयत्व अथवा निर्विषयत्व का आपादान कर के जो दोष होने पर ईषद् दोष का ग्रहण करते हुए किसी अर्थ विशेष की कल्पना कर के उसका रत्नादि का **'किटानुविद्धन्याय**[6]**'** के समान अपरिहार्यत्व का प्रदर्शन इस प्रकार से खण्डित होती है।

आचार्य 'नरकण्ठीरव' के द्वारा दिए गये विश्लेषण से यह स्पष्ट होता है कि उसके द्वारा प्रतिपादित काव्य स्वरूप सर्वत्र सौलभ्येन प्राप्त है। काव्य के अपकर्षक दोषों का रसादि रूप वैचित्र्य अर्थ में परिहार्यता आवश्यक होते हुए भी काव्य के व्याघातक तत्त्वों का काव्य के दोषक तत्त्व होने के कारण रसादिरूप वैचित्र्य अर्थ में काव्य के दोषक तत्त्व के द्वारा दूषित होने पर भी काव्यतत्त्व नहीं, ऐसा बोध नहीं करना चाहिए। इसीप्रकार की बुद्धि को धारण करके **'दुष्टेष्वपि मता'** इस उक्त नियम के अनुसार भी काव्यत्व में विरोध का अभाव मिलता ही है।

वस्तुत: विचार करने पर यही ज्ञात होता है कि 'अदोषौ' में स्थित दोषपद का अर्थ सामान्य दोष परक ही है। उस दोषपद की लक्षणा के द्वारा दोष विशेषपरत्व रूप में कल्पना करने से गौरव दोष होता है, क्योंकि व्याप्यधर्मावच्छिन्नशक्तपद का व्याप्यधर्मावच्छिन्न उपस्थापकत्व के समान व्यापकधर्मावच्छिन्नशक्तपद का व्याप्यधर्मावच्छिन्न उपस्थापकता भी लक्षणमात्र के द्वारा अवश्य निर्वाह्य करना होगा। दोष का अर्थ यह है कि वह जो मुख्य अर्थ का अर्थात् रस का अपकर्षण या हनन करता हो उसे ही दोष कहते है। मुख्यार्थ का अर्थ इससे है कि जिसके द्वारा काव्य में चमत्कार का बोध होता है। जैसा कि काव्यप्रकाश में मम्मट ने कहा है-

"मुख्यार्थहतिर्दोष: रसश्चमुख्य: तदाश्रयाद्वाच्य:।
उभयोपयोगिनस्स्यु: शब्दाद्यास्तेनतेष्वपि स:[7] **॥**

यहाँ **'मुख्यश्चासौ अर्थश्चेत् मुख्यार्थ: मुख्यार्थस्य हति: यस्माद्**[8]**'** इस प्रकार के व्यधिकरणबहुव्रीहि समास के अनन्तर रस अर्थ का ग्रहण किया जाता है। हति: का अर्थ मम्मट ने स्पष्टरूप से **'हतिरपकर्ष:**[9]**'** कहा है। जिसमें **'हन्यते अपकृष्यते रसादि: अनेन**[10]**'** इस करणव्युत्पत्ति के द्वारा अपकर्षहेतुपरक 'हति:' शब्द के साथ षष्ठीतत्पुरूष की भी विकल्प से सम्भावना उपस्थापित है। सूत्र में विद्यमान मुख्यत्व अर्थ का शक्यत्व लक्षण कथमपि सम्भव नहीं है, क्योंकि शक्यत्व लक्षण के रूप में रस आदि के विद्यमान न होने पर लक्षण की असंगति होगी। लेकिन वह किसी भिन्न रूप में होगी इसलिए कहा है- **'रसश्चेति रस्यते आस्वाद्यते इति रस:'।** इसप्रकार के व्युपत्ति के द्वारा रसपद के द्वारा तदङ्गभूतभाव आदि का भी ग्रहण करते है। पुनः पूर्वपक्ष के रूप में जिज्ञासा करते है कि इसप्रकार से नीरसकाव्य में किसी भी प्रकार का दोष नहीं होना चाहिए, क्योंकि अपकर्षण योग्य रस का अभाव वहाँ पहले से ही विद्यमान है। अत: मम्मट ने **'तदाश्रयाद्'** अर्थात् रस का आश्रय ग्रहण होता है। आश्रयण को ही आश्रय कहा जाता है। इसप्रकार रस के आश्रयदाता होने के कारणवाच्य को भी मुख्यतया स्वीकृत किया है। पुन: इसप्रकार से रस और वाच्य दोनों को ही दोष का आश्रय मानना चाहिए, न कि शब्द आदि को, पुन: इसी के समाधान के लिए **'उभयोपयोगिन:'** कहा है। यहाँ शब्द के द्वारा **'शब्द्यते शाब्दबोधविषयीक्रियते अर्थ:**' इसप्रकार के व्युपत्ति के द्वारा शब्द पद से प्रतिपादन की समता रखने वाला शब्दना व्यापारयुक्त पद तथा वाक्य दोनों ही प्राप्त होते है। इसीलिए **'आद्यपदात्वर्णरचने संगृहीते**[11]**'** इसप्रकार की काव्यप्रकाश की उक्ति ग्रहण होती है। अन्यथा वर्ण का भी शब्दपद के द्वारा ग्रहण कर लेने से **'शब्दाद्या:'** इसपद में प्रयुक्त बहुवचन असंगत होने लगेगा।

इसप्रकार से उक्तकथन अनुपपन्न होगा क्योंकि **'हति:'** शब्द का अर्थ अपकर्ष परक होते हुए भी रस के उत्पत्ति के बाधक दोषों में अव्याप्ति होने लगेगी और अनुत्पत्तिपरकता रस के अपकर्षकमात्र प्रयोजकों में अव्याप्ति का ग्राहक होता है। इसप्रकार से यह लक्षण अत्यन्त दरिद्रदम्पती के अत्यन्तक्षीण आच्छादक के समान एक के द्वारा खींचे जाने पर दूसरे के शरीर का परिहार हो जाता है एवं अर्थरूप मुख्यार्थ का अनुत्पत्ति अथवा अपकर्ष दोष के अधीन है कि नहीं? इसपर कहते है कि **'हति:'** शब्द का अर्थप्रतीति का प्रतिबन्धक है। मुख्यत्व का अर्थ, अर्थविषयक उद्देश्यप्रतीतिविषयत्व है जो कि रस तथा वाच्य उभयानुगत प्रतीत होता है। क्योंकि उन दोनों का ग्रहण एकरूप में ही होता है, और भी **'मुख्यार्थस्य हति: यस्मात्'** इस विग्रह वाक्य में षष्ठी का अर्थ विषयत्व है, तथा उसका आधेयतासम्बन्ध के द्वारा प्रकृतार्थ में अन्वित का निरुपकतासम्बन्ध के द्वारा 'हति:' पदार्थ को एकदेश के प्रतीति में अन्वय होता है। पञ्चमी का अर्थ यहाँ प्रयोज्यत्व है, जो वस्तुत: स्वरूपसम्बन्ध के द्वारा हतिपदार्थ के अनुत्पत्ति लक्षणविषयक प्रतिबन्धकता में अन्वित होगा। इसप्रकार उद्देश्यप्रतीतिविषयीभूतार्थनिष्ठविषयतानिरुपकप्रतीति का प्रतिबन्ध होना ही दोष है। इस विग्रह वाक्य में प्रयुक्त बहुव्रीहि में उत्तरपद लक्षण के अनुशासन के अनुसार से 'हति:' शब्द का रस की प्रतीति का प्रतिबन्धप्रयोजक में लक्षण के द्वारा दोषपद का दोषपदार्थ परक ग्रहण करने से रस की प्रतीति में प्रतिबन्ध का प्रयोजक ही दोष पदार्थ है, यही लक्षणवाक्यार्थ के द्वारा लाभ हुआ। प्रतिबध्य की प्रतीति उद्देश्यप्रतीतिविषयार्थविषयकत्वेन करने से पूर्वोक्त वाक्य का प्रकारान्तर से कथनमात्र है, क्योंकि वस्तुत: उसका उद्देश्यप्रतीतित्वेन ही लक्षण में सन्निवेश करना उचित है। जिससे यह अर्थ प्राप्त होता है कि **'उद्देश्यप्रतीतिप्रतिबन्धकत्वं दोषसामान्यलक्षणम्**[12]**'** अर्थात् उद्देश्य की प्रतीति में जो प्रतिबन्धक होता है, वही दोष कहलाता है। दोष लक्ष्य का लक्ष्यतावच्छेदक जो भी अर्थ प्राप्त होगा वही दोषपद के द्वारा ग्रहण किया जाएगा। अत: लक्षण और लक्ष्यतावच्छेदक में किसी भी प्रकार से भेद ग्रहण नहीं होगा।

वस्तुत: रस की प्रतीति में अनेक प्रतिबन्धकों के उपस्थित होने के कारण रसबोध में समस्या उत्पन्न होती है। अत: रसवान् काव्य स्थिति ही स्वार्थबोध कराकर रस से आप्लावित कर देते हैं, तथा उनके विषय भी उत्कृष्ट युक्त होते हैं। नीरसकाव्य में रसप्रतीति बाधित हो जाती है, और वहाँ केवल शब्द या अर्थ की चित्रता मात्र ही प्रतीति होती है। परन्तु काव्य में चमत्कारयुक्त रस की प्रतीति तात्पर्यविषयत्वेन ही होता है।

'नरकण्ठीरवशास्त्री' के अनुसार वस्तुत: दोष के ग्रहण में कहीं कहीं साक्षात् रस की ही अप्रतीति होने लगती है। कहीं कहीं प्रतीयमान वस्तु के अपकर्ष होने के कारण भी रसोद्बोध में कठिनता होती है। कहीं कहीं विलम्ब से भी रस के ग्रहण होने के कारण भी दोष उत्पन्न होता है। नीरसकाव्य में भी कहीं कहीं मुख्य अर्थ की ही अप्रतीति होने लगती है जिससे दोष उत्पन्न होने लगता है। कहीं विलम्ब से साक्षात्कार होने के कारण तथा चमत्कारत्व के अभाव में भी दोष प्रकाशित होने लगते है। विशेष्यभूत के प्रतीति की अनुत्पत्ति के कारण अथवा विशेषण के अनुत्पत्ति के कारण विशिष्ट की प्रतीति में अनुत्पत्ति का निदर्शन सर्वत्र प्राप्त होता है[13]। इसीप्रकार से सभी दोषों में उद्देश्यप्रतीतिप्रतिबन्धकत्वरूप लक्षण अवश्यमेव ग्रहण होता है।

सन्दर्भ–

[1]. काव्यलक्षण पृ. सं.२३

[2].रसत्वव्याप्यधर्मावच्छिन्नविषयकत्वावच्छिन्नप्रतिबध्यत्वशाब्दबुद्धित्वावच्छिन्नप्रतिबध्यत्वान्यतरप्रतिबध्यतानिरुपितप्रतिबन्धकताया: दोषाभावात्। काव्यलक्षण पृ. सं.२३

[3].शाब्दबुद्धित्वावच्छिन्नंप्रतिआकाङ्क्षादिज्ञानस्यैवकारणत्वेनच्युतसंस्कृत्यभावादे: कारणत्वेमानाभावात्। काव्यलक्षण पृ. सं.२४

[4]. काव्यप्रकाशप्रदीप ७.१

[5].रसगंगाधर मर्मप्रकाशटीका

[6].कीटानुविद्धरत्नादिसाधारण्येन काव्यता। दुष्टेष्वपि मता यत्र रसाद्यनुगमः स्फुटः॥ साहित्यदर्पण प्रथमपरिच्छेद, पृ. सं.९

[7].काव्यप्रकाश ७.१

[8].काव्यप्रकाशप्रदीप ७.१

[9].काव्यप्रकाश वृत्ति ७.१

[10].काव्यप्रकाशप्रदीप ७.१

[11].काव्यप्रकाश वृत्ति ७.१

[12].काव्यलक्षण पृ. सं.२६

[13].विशेष्यभूतप्रतीत्यनुत्पत्त्यावाविशेषणानुपत्पत्त्यावाविशिष्टप्रतीत्यनुत्पत्ते: सार्वत्रिकत्वात्। काव्यलक्षण.पृ. सं.२६